



[१९५९-'६१ की कविताएँ]

*

'अज्ञेय'



भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला :

सम्पादक एवं निवामक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

ग्रन्थांक : १४६

चतुर्थ संस्करण : अक्टूबर १९७१



आंगन के पार द्वार

(कविता)

'अज्ञेय'

©

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

३६२०/२१, नेताजो सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२

• • • •

AANGAN KE PAR DWAR

(Poems)

'AJNEYA'

Published by : BHARATIYA JNANPITH

3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6

(Phone : 272552, Gram 'JNANPITH', Delhi)

Price

Rs 5 00

मूल्य : पाँच रुपये

● अन्तःसलिला		५
सरस्वती-पुत्र	७
बना दे, बितेरे	८
भीतर जागा दाता	१०
अन्धकार में दीप	१२
पास और दूर	१३
पहचान	१४
शील का किनारा	१५
अन्तरंग चेहरा	१६
परायी राहें	१७
पलकों का कँपना	१८
एक उदास साँस	१९
अनुभव-परिपक्व	२०
सूनी सी साँस एक	२१
एक प्रश्न	२३
अँधेरे अकेले घर में	२४
चिड़िया ने हाँ कहा	२६
अन्तःसलिला	२८
साँस का पुतला	३०
● चक्रान्त शिला		३१
● असाध्य वीणा		६५
प्रथम पंक्तियों की सूची	७९

अन्तःसलिला

सरस्वती-पुत्र

मन्दिर के भीतर वे सब घुले-मुँछे उषड़े-अवलित्त,
खुले गले से
मुखर स्वरों में
अति-प्रगल्भ
गाते जाते थे राम-नाम ।
भीतर सब गूंगे, बहरे, अयंहीन जल्पक,
निबोध, अमाने, नाटे,
पर बाहर जितने बच्चे उतने ही बड़बोले ।

बाहर वह
झोया-पाया, मैला-उजला
दिन-दिन होता जाता बयस्क,
दिन-दिन धुंधलाती आँखों से
सुस्पष्ट देखता जाता था;
पहचान रहा था रूप,
पा रहा वाणी और ब्रह्मता शब्द,
पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था :
दिन-दिन पर उस की चिन्घो बँधती जाती थी ।

बना दे, चितेरे

बना दे, चितेरे,
मेरे लिए एक चित्र बना दे ।

पहले सागर आँक :
विस्तीर्ण प्रगाढ़ नीला,
ऊपर हलचल से भरा,
पवन के थपेड़ों से आहत,
शत-शत तरंगों से उद्वेलित,
फेनोर्मियों से टूटा हुआ, किन्तु प्रत्येक टूटने में
अपार शोभा लिये हुए,
चंचल, उत्सृष्ट,
—जैसे जीवन ।

हाँ, पहले सागर आँक :
नीचे अगाध, अथाह,
असंख्य दबावों, तनावों, खींचों और मरोड़ों को
अपनी द्रव एकरूपता में समेटे हुए,
असंख्य गतियों और प्रवाहों को
अपने अखण्ड स्थैर्य में समाहित किये हुए,
स्वायत्त,
अचंचल,
—जैसे जीवन.....

सागर आँक कर फिर आँक एक उछली हुई मछली :
ऊपर अघर में
जहाँ ऊपर भी अगाध नीलिमा है
तरंगोर्मियाँ हैं, हलचल और टूटन है,
द्रव है, दबाव है,

और उसे घेरे हुए वह अविकल सूक्ष्मता है
 जिस में सब आन्दोलन स्थिर और समाहित होते हैं;
 ऊपर अघर में
 हवा का एक बुलबुला भर पीने को
 उछली हुई मछली
 जिस की मरोड़ी हुई देह-वल्ली में
 उस की जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है ।
 जैसे तडिल्लता में दो बादलों के बीच के खिचाव सब
 कौध जाते हैं—
 वज्र अनजाने, अप्रसूत, असन्धोत सब
 गल जाते हैं ।

उस प्राणों का एक बुलबुला भर पी लेने को—
 उस अनन्त नीलिमा पर छाये रहते ही
 जिस में वह जनमी है, जियी है, पली है, जियेगी,
 उस दूसरी अनन्त प्रगाढ़ नीलिमा की ओर
 विद्युल्लता को कौध की तरह
 अपनी इयत्ता की सारी आकुल तड़प के साथ उछली हुई
 एक अकेली मछली ।

बना दे, चितेरे,
 यह चित्र मेरे लिए आंक दे ।
 मिट्टी को बनी, पानो से सिंची, प्राणाकाश की प्यासी
 उस अन्तहीन उदोपा को
 तू अन्तहीन काल के लिए फलक पर टांक दे—
 क्योंकि यह माँग मेरी, मेरी, मेरी है कि प्राणों के
 एक जिस बुलबुले की ओर मैं हुआ हूँ उदग्र, वह
 अन्तहीन काल तक मुझे खींचता रहे :
 मैं उदग्र ही बना रहूँ कि
 —जाने कब—
 वह मुझे सोख ले ।

भीतर जागा दाता

मत्तियाया

सागर लहराया ।

तरंग की पंखयुक्त वीणा पर

पवन ने भर उमंग से गाया ।

फेन-झालर दार मखमली चादर पर मचलती

किरण-अप्सराएँ भारहोन पैरों से थिरकी—

जल पर आलते की छाप छोड़ पल-पल बदलती ।

दूर धुंधला किनारा

झूम-झूम आया, डगमगाया किया ।

मेरे भीतर जागा

दाता :

बोला :

लो, यह सागर मैं ने तुम्हें दिया

हरियाली बिछ गयो तराई पर,

घाटो की पगडण्डो

लजायो और ओट हुई—

पर चंचला रह न सकी, फिर उसकी ओर झाँक गयी ।

छरहरे पेड़ की नयी रँगौली फुनगी

आकाश के भाल पर जय-तिलक आँक गयी ।

गेहूँ की हरी बालियों में से

कभी राई की उजली, कभी सरसों को पीली फूल-ज्योत्स्ना
दिप गयी,

कभी लाली पोस्ते की सहसा चींका गयी—

कभी लघु नीलिमा तीसी की चमकी और छिप गयी ।

मेरे भीतर फिर जागा

दाता :

और मैं ने फिर नीरव संकल्प किया :

लो, यह हरी-भरी धरती—यह सबत्सा कामधेनु—मैं ने तुम्हें दी :

आकाश भी तुम्हें दिया :

यह वीर, यह अंकुर, ये रंग, ये फूल, ये कोंपले,

ये दूधिया कनो से भरी बालियाँ,

ये मैं ने तुम्हें दीं :

आँकी-आँकी रेखा यह,

मेड़ों पर छाग-छौने ये किलोलते,

यह तलैया, गलियारा यह,

सारसों के जोड़े, मौन खड़े पर तोलते—

यह रूप जो केवल मैं ने देखा,

यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैं ने जिया,

सब तुम्हें दिया ।

एक स्मृति से मन पूत हो आया ।

एक श्रद्धा से आहूत प्राणों ने गाया ।

एक प्यार का ज्वार दुनिवार बढ़ आया ।

मैं डूबा नहीं, उमड़ा-उतराया,

फिर भीतर

दाता खिल आया ।

हँसा, हँस कर तुम्हें बुलाया ।

लो, यह स्मृति, यह श्रद्धा, यह हँसी,

यह आहूत, स्पर्श-पूत भाव

यह मैं, यह तुम, यह खिलना,

यह ज्वार, यह प्लवन,

यह प्यार, यह अडूब उमड़ना—

सब तुम्हें दिया ।

सब

तुम्हें

दिया ।

अन्धकार में दीप

अन्धकार था :

सब कुछ जाना

पहचाना था

छुआ कभी न गयां हो, फिर भी

सब-कुछ की संयति थी,

संहति थी,

स्वीकृति थी ।

दिया जलाया :

अर्थहीन आकारों को यह

अर्थहीनतर मोड़—

निरयंकता का संकुल—

निजलं पारावार न-कारों का

यह उमड़ा आया ।

कहाँ गया वह

जिस ने सब-कुछ को

ऋत के ढाँचे में धा घेठाया ?

पास और दूर

जो पास रहे
वे ही तो सब से दूर रहे :
प्यार से बार-बार
जिन सब ने उठ-उठ हाथ और झुक-झुक कर पैर गहे,
वे ही दयालु, वत्सल, स्नेही तो
सब से क्रूर रहे ।

जो चले गये
ठुकरा कर हड्डी-पसली तोड़ गये ।
पर जो मिट्टी
उन के पग रोप-भरे खूँदते रहे,
फिर अबहेला से रीद गये,
उस को वे ही अनजाने में नयी खाद दे गोड़ गये :
उस में वे ही एक अनोखा अंकुर रोप गये ।
—जो चले गये,
जो छोड़ गये,
जो जड़ें काट, मिट्टी उगाट, चुन-चुन कर डाल मरोड़ गये
वे नहर खोद कर अनायास
सागर से सागर जोड़ गये ।
मिटा गये अस्तित्व,
किन्तु वे
जोवन मुक्ष को सौंप गये ।

पहचान

तुम
वही थी :
किन्तु ढलती धूप का कुछ खेल था—
ढलती उमर के दाग उस ने घो दिये थे ।
भूल थी
पर
बन गयी पहचान—
मैं भी स्मरण से
नहा आया ।

झील का किनारा

झील का निर्जन किनारा
और वह सहसा छाये सन्नाटे का
एक क्षण हमारा ।
वैसा सूर्यास्त फिर नही दिखा
वैसी क्षितिज पर सहमी सो बिजली
वैसी कोई उत्ताल लहर और नहीं आयी
न वैसी मंदिर बयार कभी चली ।

वैसी कोई शक्ति अकल्पित और अयाचित
फिर हम पर नहीं छायी ।
वैसा कुछ और छली काल ने
हमारे सटे हुए लिलारों पर नहीं लिखा ।

वैसा अभिसंचित, अभिमन्त्रित,
सघनतम संगोपन कल्पान्त
दूसरा हम ने नही जिया ।
वैसी शीतल अनल-शिखा
न फिर जली, न चिर-काल पली,
न हम से सँभली ।

या कि अपने को उतना वैसा
हमीं ने दुबारा फिर नही दिया ?

अन्तरंग चेहरा

अरे ये उपस्थित
घेरते, घूरते, टेरते
लोग—लोग—लोग—लोग
जिन्हें पर विधाता ने
मेरे लिए दिया नहीं
निजी एक अन्तरंग चेहरा ।

अनुपस्थित केवल वे
हेरते, अगोरते
लोचन दो
निहित निजीपन जिन में
सब चेहरों का,
ठहरा ।

वातायन
संसृति से मेरे राग-बन्ध के ।
लोचन दो—
सम्पृक्ति निविड की
स्फटिक-विमल वापियाँ
अचंचल :
जल
गहरा—गहरा—गहरा !

परायी राहें

दूर सागर पार
पराये देश की अनजानी राहें ।
पर शीलवान् तरुओं की
गुरु, उदार,
पहचानी हुई छाहें ।

छनी हुई धूप की सुनहली कनी को बीन,
तिनके की लघु अनी मनके सो बींध, गूँथ, फेरती सुमिरनी,
पूछ बैठी :
कहाँ, पर कहां वे ममतामयी बाहें ?

पलकों का कॅपना

तुम्हारी पलकों का कॅपना ।
तनिक सा घमक गुलना, फिर शॅपना ।
तुम्हारी पलकों का कॅपना ।
मानो दीसा तुम्हें लज्जोली किमी कज्जो के
खिलने का मपना ।
तुम्हारी पलकों का कॅपना ।
सपने की एक किरण मुझ को दो ना,
है मेरा इष्ट तुम्हारे उस सपने का कण होना ।
और सब समय पराया है ।
बस उतना क्षण अपना ।
तुम्हारी पलकों का कॅपना ।

एक उदास साँझ

सूने गलियारो की उदासी ।
गोखों में पीली मन्द उजास
स्वयं मूर्छा सी ।
थकी हारो साँसे, वासी ।

चिमटी से जकड़ो सी नभ की थिंगली में
तारों की बिसरी सुइयाँ सी ।
यादें : अपने को टटोलती
सहमी, ठिठकी, प्यासी ।

हाँ, कोई आ कर निश्चय दिया जलायेगा ।
दिपता-क्षिपता लुब्धक सूने में कभी उभर आयेगा ।
नंगी काली डाली पर नीरव
धुँधला उजला पंछी मँडरायेगा ।
हाँ, साँसों ही साँसों से रोत गया
अन्तर भी भर आयेगा ।
पर वह जो बीत गया—जो नहीं रहा—
वह कैसे फिर आयेगा ?

अनुभव-परिपक्व

माँ हम नहीं मानते—
अगली दीवाली पर मेले से
हम वह गाने वाला टोन का लट्टू
लेंगे ही लेंगे—
नही, हम नहीं जानते—
हम कुछ नहीं सुनेंगे ।

—कल गुड़ियों का मेला है, माँ ।
मुझे एक दो पैसे वाली
कागज़ की फिरकी तो ले देना ।
अच्छा मैं लट्टू नहीं माँगता—
तुम बस दो पैसे दे देना ।

—अच्छा, माँ, मुझे खाली मिट्टो दे दो—
मैं कुछ नहीं भागूँगा :
मेले जाने का हठ नहीं ठानूँगा ।
जो कहोगी मानूँगा ।

सूनी सी साँझ एक

सूनी सी साँझ एक
दवे-पाँव मेरे कमरे में आयी थी ।
मुझ को भी वहाँ देख
घोड़ा सकुचायी थी ।
तभी मेरे मन में यह बात आयी थी
कि ठीक है, यह अच्छी है,
उदास है, पर सच्ची है :
इसी की साँवली छाँह में कुछ देर रहूँगा
इसी की साँस की लहर पर बहूँगा ।
चुपचाप इसी के नीरव तलुवों की
लाल छाप देखता
कुछ नहीं कहूँगा ।

पर उस सलोनी के पीछे-पीछे
घुस आयों बिजली की बत्तियाँ
बेहया घड़-घड़ गाड़ियों की :
मानुषों की खड़ी-खड़ी बोलियाँ ।
वह रुकी तो नहीं, आयी तो आ गयी,
पर साथ-साथ मुरझा गयी ।
उस की पहले ही मद्धिम अरुणाली पर
घुटन की एक स्वाही सी छा गयी ।
—सोचा था कुछ नही कहूँगा :
कुछ नहीं कहा :
पर मेरे उस भाव का, संकल्प का
बस, इतना ही रहा ।

अनुभव-परिपक्व

माँ हम नहीं मानते—
अगली दीवाली पर मेले से
हम वह गाने वाला टोन का लट्टू
लेंगे ही लेंगे—
नहीं, हम नहीं जानते—
हम कुछ नहीं सुनेंगे ।

—कल गुड़ियों का मेला है, माँ ।
मुझे एक दो पैसे वाली
कागज़ की फिरकी तो ले देना ।
अच्छा मैं लट्टू नहीं माँगता—
तुम बस दो पैसे दे देना ।

—अच्छा, माँ, मुझे खाली मिट्टी दे दो—
मैं कुछ नहीं माँगूँगा ;
मेले जाने का हठ नहीं ठानूँगा ।
जो कहोगी मानूँगा ।

झरते रहे आलोक के सोते अवदात—
और मुझे घेरे रही
अँधेरे अकेले घर में
अँधेरी अकेली रात ।

अँधेरे अकेले घर में

अँधेरे अकेले घर में
अँधेरी अकेली रात ।
तुम्ही से लुक-छिप कर
आज न जाने कितने दिन बाद
तुम से मेरी मुलाकात ।
और इस अकेले सन्नाटे में
उठती है रह-रह कर
एक टीस सी अकस्मात्
कि कहने को तुम्हें इस
इतने घने अकेले में
मेरे पास कुछ भी नहीं है बात ।

क्यों नहीं पहले कभी मैं इतना गूँगा हुआ ?
क्यों नहीं प्यार के सुघ-भूले क्षणों में
मुझे इस तीखे ज्ञान ने छुआ
कि खो देना तो देना नहीं होता—
भूल जाना और, उत्सर्ग है और बात :
कि जब तक वाणी हारी नहीं
और वह हार मैं ने अपने में पूरी स्वीकारो नहीं,
अपनी भावना, संवेदना भी वारी नहीं—
तब तक वह प्यार भी
निरा संस्कार है, संस्कारी नहीं ।
हाय, कितनी झीनी ओट में

झरते रहे आलोक के सोते अवदात—
और मुझे घेरे रही
अँधेरे अकेले घर में
अँधेरी अकेली रात ।

चिड़िया ने ही कहा

मैं ने कहा
कि 'चिड़िया' :
मैं देखता रहा—
चिड़िया चिड़िया ही रही ।
फिर-फिर देखा
फिर-फिर बोला,
'चिड़िया' ।
चिड़िया चिड़िया ही रही ।

फिर—जाने कब—
मैं ने देखा नहीं :
भूल गया था मैं क्षण भर को तकना !—
मैं कुछ बोला नहीं—
ग्यो गयो यो क्षण भर को स्तब्ध-चकित मो याग्यो,
शब्द गये ये विस्मर, फटो छीमी से जैसे
फट कर ग्यो जाते हैं योज
अनयना खहोना धरतो में
होने को अंकुरित अजाने—
तब—जाने कब—
चिड़िया ने ही कहा
कि 'चिड़िया' ।
चिड़िया ने ही देखा
यह चिड़िया यो ।
चिड़िया

चिड़िया नहीं रही है तब से :

मैं भी नहीं रहा मैं ।

कवि हूँ !

कहना सब सुनना है, स्वर केवल सन्नाटा ।

कही बड़े गहरे में

सभी स्वर हैं नियम,

सभी सजँन केवल

आँचल पसार कर लेना ।

अन्तःसलिला

रेत का विस्तार
नदी जिस में खो गयी
कृश धार :
झरा मेरे आँसुओं का भार
—मेरा दुख-धन,
मेरे समीप अगाध पारावार—
उस ने सोख सहसा लिया
जैसे लूट ले बटमार ।
और फिर आक्षितिज
लहरोला मगर बेटूट
सूखी रेत का विस्तार—
नदी जिस में खो गयी
कृश-धार ।

किन्तु जब-जब जहाँ भी जिस ने कुरेदा
नमी पायी : और खोदा—
हुआ रस-संचार :
रिसता हुआ गड्ढा भर गया ।
यों अजाना पान्य
जो भी क्लान्त आया, रुका ले कर आस,
स्वल्पायास से ही शान्त
अपनी प्यास
इस से कर गया :
खींच लम्बी साँम
पार उतर गया ।

अरे, अन्तःसलिल है रेत :
अनगिनत पैरों तले रीदो हुई अवि राम
फिर भी घाव अपने आप भरती,
पड़ी सज्जाहोन,
घूसर-भौर,
निरोह और उदार !

साँस का पुतला

वासना को बांधने को
तूमड़ी जो स्वर-तार बिछाती है—
आह ! उसी में कैसी एकान्त निविड
वासना धरधराती है !

तभी तो साँप की कुण्डली हिलती नहीं—
फन डोलता है ।

कभी रात मुझे घेरती है,
कभी मे दिन को टेरता हूँ,
कभी एक प्रभा मुझे हेरती है,
कभी मैं प्रकाश-कण बिखेरता हूँ ।

कैसे पहचानूँ कब प्राण-स्वर मुखर है,
कब मन बोलता है ?

साँस का पुतला हूँ मैं :
जरा से वेंघा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूँ :
पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा
जीवन्मुक्त मैं किया गया हूँ ।

काल की दुर्वह गदा को एक
कौतुक भरा वाल क्षण तोलता है !

१ :

यह महाशून्य का शिविर,
असीम, छा रहा ऊपर :
नीचे यह महामौन की सरिता
दिग्विहीन बहती है ।

यह बीच-अधर, मन रहा टटोल
प्रतीकों की परिभाषा
आत्मा में जो अपने ही से
खुलती रहती है ।

रूपों में एक अरूप सदा खिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
पुरुषों के हर वैभव में ओझल
अपीरूपेय मिलता है ।

मैं एक, शिविर का प्रहरी, भोर जगा
अपने को मौन नदी के सड़ा किनारे पाता हूँ :
मैं, मौन-मुखर, सब छन्दों में
उस एक अनिर्वच, छन्द-मुक्त को
गाता हूँ ।

२ :

वन में एक झरना बहता है
एक नर-कोकिल गाता है
वृक्षों में एक मर्मर
कोंपलों को सिहराता है,
एक अदृश्य क्रम नीचे ही नीचे
झरे पत्तों को पचाता है ।
अंकुर उगाता है ।

मैं सोते के साथ बहता हूँ,
पक्षों के साथ गाता हूँ,
वृक्षों के कोंपलों के साथ थरथराता हूँ,
और उसी अदृश्य क्रम में, भीतर ही भीतर
झरे पत्तों के साथ गलता और जीर्ण होता रहता हूँ
नये प्राण पाता हूँ ।

पर सब से अधिक मैं
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ—
क्योंकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूँ,
जोड़ता है मुझ को विराट् से
जो मौन, अपरिवर्त है, अपौरुषेय है
जो सब को समोता है ।

मौन का ही सूत्र
किसी अर्थ को मिटाये बिना
सारे शब्द क्रमागत
सुमिरनी में पिरोता है ।

३ :

सुनता हूँ गान के स्वर ।
बहुत से द्रुत, बाल-चपल, तार,
एक भव्य, मन्द्र गम्भीर, बलवती तान के स्वर ।

मे वन में हूँ ।
सब ओर घना सघना छाया है ।
तब क्वचित्
कही मेरे भीतर ही यह कोई संगीत-वृन्द आया है ।
वन-खण्डी की दिशा-दिशा से
गूँज-गूँज कर आते हैं आह्वान के स्वर ।
भीतर अपनी शिरा-शिरा से
उठते हैं आह्लाद और सम्मान के स्वर ।
पीछे, अघ-डूबे, अवसान के स्वर ।
फिर सब से नीचे, पीछे, भीतर, ऊपर,
एक सहस्र आलोक-विद्ध उन्मेष,
चिरन्तन प्राण के स्वर ।

सुनता हूँ गान के स्वर
बहुत से द्रुत, बाल-चपल, तार;
एक भव्य, मन्द्र गम्भीर, बलवती तान के स्वर ।

४ :

किरण जब मुझ पर झरो
में ने कहा ।
में वज्र कठोर हूँ—
पत्थर सनातन ।

किरण बोली :
भला ? ऐसा !
तुम्हीं को तो खोजती थी मैं :
तुम्हीं से मन्दिर गढ़ूँगी
तुम्हारे अन्तःकरण से
तेज की प्रतिमा उकेरूँगी ।

स्तब्ध मुझ को
किरण ने
अनुराग से दुलरा लिया ।

५ :

एक चिकना मौन
जिस में मुखर-तपती वासनाएँ
दाह खोती
लीन होती हैं ।
उसी में स्वहीन
तेरा
गूँजता है छन्द :
ऋत विज्ञप्त होता है ।

एक काले घोल की सी रात
जिस में रूप, प्रतिमा, मूर्तियाँ
सब पिघल जातीं
बोट पातीं
एक स्वप्नातीत, रूपातीत
पुनीत
गहरी नींद की ।
उसी में से तू
बढ़ा कर हाथ
सहसा खींच लेता—
गले मिलता है ।

६ :

रात में जागा
अन्धकार की सिरकी के पीछे से
मुझे लगा, मैं सहसा
सुन पाया सन्नाटे की कनकतियाँ
धीमी, रहस, सुरीली,
परम गीतिमय ।

और गीत वह मुझ से बोला, दुर्निवार,
अरे, तुम अभी तक नहीं जागे,
और यह मुक्त स्रोत सा सभी ओर वह चला उजाला !
अरे, अभागे—
कितनी बार भरा, अनदेखे,
छलक-छलक बह गया तुम्हारा प्याला ?

मैं ने उठ कर खोल दिया वातायन—
और दुबारा चौंका :
वह सन्नाटा नहीं—
झरोखे के बाहर
ईश्वर गाता था ।
इसी बीच फिर
बाढ़ उपा की आयी ।

बाँगन के पार द्वार

७ :

हवा कहीं से उठी, वही—
ऊपर ही ऊपर चली गयी ।
पथ सोया ही रहा :
किनारे के क्षुप चौके नहीं
न कांपी डाल, न पत्ती कोई दरकी ।
अंग लगी लघु ओस-चूँद भी एक न डरकी ।

वन-खण्डों में सधे खड़े पर
अपनी ऊँचाई में खोये से
चोड़
जाग कर सिहर उठे
सनसना गये ।
एकस्वर नाम वही अनजाना
साथ हवा के
गा गये ।

ऊपर ही ऊपर
जो हवा ने गाया,
देवदारु ने दुहराया,
जो हिम-चोटियों पर झलका,
जो साँझ के आकाश से छलका—
वह किस ने पाया
जिस ने आपत्त करने की आकांक्षा का हाथ बढ़ाया ?

झांगन के पार द्वार

आह ! वह तो मेरे
दे दिये गये हृदय में उतरा,
मेरे स्वीकारी आँसू में डलका :
वह अनजाना अनपहचाना ही आया ।
वह इन सब के—और मेरे—माध्यम से
अपने में अपने को लाया,
अपने में समाया ।

८ :

जितनी स्फूर्ति इयत्ता मेरी झलकाती है
उतना ही मैं प्रेत हूँ ।
जितना रूपाकार-सारमय दीख रहा हूँ
रेत हूँ ।

फोड़-फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिभा
मेरे अनजाने, अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है—
वस, उतना मैं खेत हूँ ।

९ :

जो बहुत तरसा-तरसा कर
मेघ से बरसा
हमें हरसाता हुआ,
—मार्टा में रीत गया ।

आह ! जो हमें सरसाता है
वह छिपा हुआ पानी है
हमारा इस जानी पहचानी
भाटी के नीचे का ।
—रीतता नहीं
बीतता नही ।

धुन्ध से ढँकी हुई
 कितनी गहरी वापिका तुम्हारी
 कितनी लघु अंजली हमारी ।

कुहरे में जहाँ-तहाँ लहराती सी कोई
 छाया जब-तब दिख जाती है,
 उत्कण्ठा को ओक वही द्रव भर ओठों तक लाती है—
 बिजली को जलती रेखा सी
 कण्ठ चीरती छाती तक खिंच जाती है ।
 फिर और प्यास तरसाती है,
 फिर दौठ
 धुन्ध में फाँक खोजने को टकटकी लगाती है ।
 आतुरता हमें भुलाती है
 कितनी लघु अंजली हमारी,
 कितनी गहरी यह धुन्ध-ढँकी वापिका तुम्हारी

फिर भरते हैं ओक,
 लहर का वृत्त फैल कर हो जाता है ओशल,
 इसी भाँति युग-कल्प शिलित कर गये हमारे पल-पल
 —वापी को जो धुन्ध ढँके है, छा लेती है
 गिर-गह्वर भी अविरल ।
 किन्तु एक दिन खुल जायेगा
 स्फटिक-मुकुर सा निर्मल वापी का तल,
 आशा का आग्रह हमें किये है बेकल—
 धुन्ध-ढँकी
 कितनी गहरी वापिका तुम्हारी,
 कितनी लघु अंजली हमारी ।

किन्तु नही क्या यही धुन्ध है सदावर्त
 जिस में नोरन्ध्र तुम्हारी करुणा

बैठती रहती है दिन-याम ?
कभी झॉक जाने वालो छाया ही
अन्तिम भाषा-सम्भव-नाम ?

करुणा-घाम !

बीज-मन्त्र यह, सार-सूत्र यह, गहराई का एक यही परिमाण,
हमारा यही प्रणाम !

धुन्ध ढँकी

कितनी गहरो वापिका तुम्हारी —

लघु अंजली हमारी ।

तू नहीं कहेगा ?

मैं फिर भी मुन ही लूँगा ।

किरण भोर की पहली भोलेपन से बतलावेगी,

झरना शिशु सा अनजान उसे दुहरावेगा,

घोंघा गोली पीली रेतो पर धीरे-धीरे अँकेगा,

पत्तों का मर्मर कनकतियों में जहाँ-तहाँ फैलावेगा,

पंछी की तोखी कूक फरहरे-मढ़े शल्य सो आसमान पर टाँकेगी

फिर दिन सहसा खुल कर उस को सब पर प्रकटावेगा,

निर्भय प्रकाश से सब कुछ पर सुलझा सब कुछ लिख जावेगा ।

मैं गुन लूँगा ।

तू नहीं कहेगा ?

आस्था है,

नहीं अनमना हूँगा तब—

मैं सुन लूँगा ।

१२ :

अरी ओ आत्मा री,
कन्या भोली बवारी
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयीं ।

अब से तेरा कर एक वही गह पायेगा—
सम्भ्रम-अवगुण्ठित अंगों को
उस का ही मृदुतर कौतूहल
प्रकाश की किरण छुआयेगा ।
तुझ से रहस्य की बात निभृत में
एक वही कर पायेगा ।
तू उतना, वैसा समझेगी वह जैसा जो समझायेगा ।

तेरा वह प्राप्य, वरद कर उस का तुझ पर जो बरसायेगा ।
उद्देश्य, उसे जो भावे; लक्ष्य, वही जिस ओर मोड़ दे वह—
तेरा पथ मुड़-मुड़ कर सीधा उस तक ही जायेगा ।
तू अपनी भी उतनी ही होगी जितना वह अपनायेगा ।

ओ आत्मा री
तू गयी बरी
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयी

हां, छूट चला यह घर, उपवन,
परिचित-परिगण, में भी, आत्मीय सभी,
पर खेद न कर, हम थे इतने तक के अपने—
हम रचे ही गये थे यथार्थ आधे, आधे सपने—
आँखें भर कर ले फेर, और भर अंजलि दे बिखेर
पीछे को फूल :
—स्मरण के, श्रद्धा के, कृतज्ञता के, सब के—
हम नहीं पूछते, जो हो, बस, मत हो परिताप कभी ।

जा आत्मा, जा
कन्या—वधुका—
उस की अनुगा,
वह महाशून्य ही अब तेरा पथ,
लक्ष्य, अन्न-जल, पालक, पति,
आलोक, धर्म :
तुझ को वह एक मात्र सरसायेगा ।

ओ आत्मा रो
तू गयी बरी,
ओ सम्पृक्ता,
ओ परिणीता :
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयीं ।

१३ :

अकेली और अकेली ।
प्रियतम घोर, समुद्र सब सहने वाला;
मनचली सहेली ।

अकेला :

वह तेजोमय है जहाँ,
दीठ बेवस झुक जाती है;
वाणी तो क्या, सन्नाटे तक की गूँज
वहाँ चुक जाती है ।
शोतलता उस की एक छुअन भर से
सारे रोमांच शिलित कर देती है,
मन के द्रुत रथ को अविश्रान्त गति
कभी नहीं उस का पदनख तक परिक्रान्त कर पाती है ।
वह
इस लिए
अकेला ।

अकेली :

जो कहना है, वह भाषा नहीं माँगता ।
इस लिए किसी की साक्षी नहीं माँगता,
जो सुनना है, वह जहाँ झरेगा तेज-भस्म कर डालेगा—
तब कैसे कोई उसे झेलने के हित पर से साक्षा पालेगा ?
वह
इस लिए निरस्य, निर्वसन, निस्साधन, निरीह,
इस लिए
अकेली ।

वह धीरे-धीरे आया
सधे पैरों से चला गया ।

किसी ने उस के छुआ नहीं ।
उस असंग को अटकाने को
कोई कर न उठा ।

उस की आँखें रहीं देखती सब कुछ
सब कुछ को वात्सल्य-भाव से सहलाती, असीसती,
पर ऐसे, कि अयाना है सब कुछ, शिशुवत् अबोध ।
अटकी नहीं दीठ वह,
जैसे तृण-तरु को छूती प्रभात की घूप
दीठ भी आगे चली गयी ।

आगे, दूर, पार, आगे को,
जहाँ और भी एक असंग सधा बैठा है,
जिस की दीठ देखती सब कुछ,
सब कुछ को सहलाती, दुलराती, असीसती,
—उस को भी, शिशुवत् अबोध को मानो—
किन्तु अटकती नहीं, चली जाती है आगे ।

आगे ?
हाँ, आगे, पर
उस से आगे सब आयाम
धूम-धूम जाते हैं चक्राकार,
उसी तक लोट
समाहित हो जाते हैं ।

१५ :

जो कुछ सुन्दर था, प्रिय, काम्य,
जो अच्छा, मँजा-नया था, मत्य-सार,
मैं धोन-धीन कर लाया ।

नैवेद्य चढ़ाया ।

पर यह क्या हुआ ?

सब पड़ा-पड़ा कुम्हलाया, सूख गया, मुरझाया :
कुछ भी तो उस ने हाथ बढ़ा कर नहीं लिया ।

गोपन लज्जा में लिपटा, सहमा स्वर भीतर से आया :
यह सब मन ने किया,
हृदय ने कुछ नहीं दिया,
धातो का नहीं, अपना हो जिया ।

इस लिए आत्मा ने कुछ नहीं छुआ ।

केवल जो अस्पृश्य, गर्ह्य कह
सज आयी मेरे अस्तित्व मात्र की सत्ता,
जिस के भय से त्रस्त, ओढ़ती काली घृणा इयत्ता,
उतना ही, वही हलाहल उस ने लिया ।
और मुझ को वात्सल्य भरा आशिष दे कर !—
ओक भर पिया ।

१६ :

मैं कवि हूँ
द्रष्टा, उन्मेषा,
सन्घाता,
अर्थवाह,
मैं कृतव्यय ।

मैं सच लिखता हूँ :
लिख-लिख कर सब
झूठा करता जाता हूँ ।

तू काव्य :
सदा-वेष्टित यथार्थ
चिर-तनित,
भारहीन, गुरु,
अव्यय ।

तू छलता है
पर हर छल में
तू और विशद, अभ्रान्त,
अनूठा होता जाता है ।

धांगन के पार द्वार

१७ :

न कुछ में से वृत्त यह निकला कि जो फिर
शून्य में जा विलय होगा ।

किन्तु वह जिस शून्य को बांधे हुए है—
उस में एक रूपातीत ठण्डो ज्योति है ।

तब फिर शून्य कैसे है—कहाँ है ?
मुझे फिर आतंक किस का है ?

शून्य को भजता हुआ भी मैं
पराजय को बरजता हूँ ।
चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा में निमजती है :
मैं स्वयं
उस ज्योति से अभिषिक्त
सजता हूँ ।

१८ :

अन्धकार में चली गयी है
काली रेखा
दूर-दूर पार तक ।

इसी लीक को थामे मैं
बढ़ता आया हूँ
बार-बार द्वार तक :

ठिक गया हूँ वहाँ :
खोज यह दे सकती है मार तक ।

चलने की है यही प्रतिज्ञा
पहुँच सकूँगा मैं
प्रकाश के पारावार तक;

क्यों चलना यदि पथ है केवल
मेरे अन्धकार से
सब के अन्धकार तक ?

—या कि लांघ कर ही उस को
पहुँचा जावेगा
सब कुछ धारण करने वाली पारमिता कहना तक—
निर्व्यक्तिक प्यार तक ?

आँगन के पार द्वार

१९ :

उस बोहड़ काली एक शिला पर बैठा दत्तचित्त—
वह काक चोंच से लिखता ही जाता है अविश्राम
पल-छिन, दिन-युग, भय-त्रास, व्याधि-ज्वर,
जरा-मृत्यु,
वनने-मिटने के कल्प, मिलन-बिछुड़न,
गति-निगति-विलय के
अन्तहीन चक्रान्त ।

इस धवल शिला पर यह आलोक-स्नात,
उजला ईश्वर-योगी, अवलान्त शान्त,
अपनी स्थिर, धीर, मन्द स्मिति से वह सारो लिखत
मिटता जाता है

योगी ।

वह स्मिति मेरे भीतर लिख दे :
मिट जाय सभी जो मिटता है ।
वह अलम् होगी ।

ढूह की ओट वैठे
बूढ़े से मैं ने कहा :
मुझे मोती चाहिए

उस ने इगारा किया ।

पानी में कूदो ।

मैं ने कहा : मोती मिलेगा ही, इस का भरोसा क्या ?

उस ने एक मूँठ बालू उठा मेरी ओर कर दी ।

मैं ने कहा : इस में से मिलेगा मुझे मोती ?

उस ने एक कंकड़ उठाया और

अनमने भाव से मुझे दे मारा ।

मैं ने बड़ा जतन दिखाते हुए उसे बीन लिया

और कहा : यही क्या मोती है—

बाप का ?

घोरे-घोरे झुका माथा ऊँचा हुआ,

मुड़ा वह मेरी ओर ।

सागर से उस की आँखें थी

सदियों की रेती पर

इतिहास की हवाओं की लिखतों से

नैन-कोरों की शूरियाँ ।

बोला वह :

(कौसी एक खोयी हुई हवा उन
वालुओं के दृष्टों में से, घासों में से
सर्पिल से फिसली चली गयी)

'हाँ :

या कि नहीं बयों ?
मिट्टी के भीतर
पत्थर था
पत्थर के भीतर
पानी था
पानी के भीतर
मेंढक था
मेंढक के भीतर

अस्थियाँ थीं यानी मिट्टी-पत्थर था,
लहू की धार थी यानी पानी था,
श्वास था यानी हवा थी,
जीव था—यानी मेंढक था ।

मोती जो चाहते हो
उस की पहचान अगर यह नहीं
तो और क्या है ?

२१ :

यही, हाँ, यही—
कि और कोई बची नहीं रही
उस मेरी मधु-मद-भरी
रात की निशानी :
एक यह ठीकरे हुआ प्याला
कहता है—
जिसे चाहो तो मान लो कहानी ।

और दे भी क्या सकता हूँ हवाला
उस रात का :
या प्रमाण अपनी बात का ?
उस घूममुक्त कम्पहीन
अपने ही ज्वलन के हुताशन के
ताप-शुभ्र केन्द्र-वृत्त में
उस युग-साक्षात् का ?

यों कहों तो था लेखा :
पर मैं ने जो दिया, जो पाया,
जो पिया, जो गिराया,
जो ढाला, जो छलकाया,
जो नितारा, जो छाना,
जो उतारा, जो चढ़ाया,
जो जोड़ा, जो तोड़ा, जो छोड़ा—
सब का जो कुछ हिसाब रहा, मैं ने देखा
कि उसी यज्ञ-ज्वाला में गिर गया ।
और उसी क्षण मुझे लगा कि अरे, मैं तिर गया
—ठीक है, मेरा सिर फिर गया ।

धांगन के पार द्वार

मैं अवाक् हूँ, अपलक हूँ ।
मेरे पास और कुछ नहीं है
तुम भी यदि चाहो
तो ठुकरा दो :
जानता हूँ कि मैं भी तो ठोकरा हूँ ।
और मुझे कहने को क्या हो
जब अपने तई खरा हूँ ?

ओ मूर्ति !
 वासनाओं के विलय,
 अदम आकांक्षा के विश्राम ।
 वस्तु-तत्त्व के बन्धन से छुटकारे के
 ओ शिलाभूत संकेत,
 ओ आत्म-साक्ष्य के मुकुर,
 प्रतीकों के निहितार्थ !
 सत्ता-करुणा, युगनद्ध !
 ओ मन्त्रों के शक्ति-स्रोत,
 साधना के फल के उत्सर्ग
 ओ उद्गतियों के आयाम !

ओ निश्छाय, अरूप,
 अप्रतिम प्रतिमा,
 ओ निःश्रेयस्
 स्वयंसिद्ध !

उसी एकान्त में घर दो
 जहाँ पर सभी आवें :
 वही एकान्त सच्चा है
 जिसे सब छू सकें ।
 मुझ को यही वर दो
 उसी एकान्त में घर दो
 कि जिस में सभी आवें—
 —मैं न आऊँ ।

नहीं मैं छू भी सकूँ जिस को
 मुझे ही जो छुए, धेरे समो ले ।
 क्योंकि जो मुझ से छुआ जा सका—
 मेरे स्पर्श से चटका—
 न ही है आसरा, वह छत्र कच्चा है :
 वही एकान्त सच्चा है
 जिसे छूने में चले तो मैं पलट कर टूट जाऊँ ।
 लौट कर फिर वहाँ आऊँ
 किन्तु पाऊँ
 जो उसे छू रहा है वह मैं नहीं हूँ :
 सभी हैं वे । सभी : वह भी जो कि इस का बोध
 मुझ तक ला सका ।
 उसी एकान्त में घर दो—
 यही वर दो ।

२५ :

सागर और धरा मिलते थे जहाँ
सन्धि-रेखा पर
मैं बैठा था ।

नहीं जानता
क्यों सागर था मौन ।
क्यों धरा मुखर थी ।

सन्धि-रेखा पर बैठा मैं अनमना
देखता था सागर को
किन्तु धरा को सुनता था ।
सागर की लहरों में जो कुछ पड़ता था
रेती की लहरों पर लिखता जाता था ।

नही जानता
क्यों
मैं बैठा था ।

पर वह सब तब था
जब दिन था ।
फिर जब
घरती से उठा हुआ सूरज
तपते-तपते हो जीर्ण
गिरा सागर में—
तब सन्ध्या की तीखी किरण एक
उठ

मुझे विद्ध करती सायक सो
उसी सन्धि-रेखा से बांध
अचानक डूब गयी ।
फिर धीरे-धीरे
रात घेरती आयी, फैल गयी
फिर अन्धकार में
मौन हो गयी घरा,
मुखर हो सागर गाने लगा गान ।

मुझे और कुछ लखने-सुनने
पढ़ने-लिखने को नहीं रहा :
अपने भीतर
गहरे में मैं ने पहचान लिया
है यही ठीक । सागर ही गाता रहे,
घरा हो मौन,
यही सम्यक् स्थिति है ।

यद्यपि क्यों
मैं नहीं जानता ।

फिर मैं सपने से जाग गया

हाँ, जाग गया ।
पर क्या यह जगा हुआ मैं
अब से युग-युग
उसी सन्धि-रेखा पर वैसा
किरण-विद्ध ही बँधा रहूँगा ?

आगत के पार द्वार

२६ :

आँगन के पार
द्वार खुले
द्वार के पार आँगन ।
भवन के ओर-छोर
सभी मिले—
उन्ही में कहीं खो गया भवन ।

कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने,
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार-बार पा-लागन ।

२७ :

दूज का चाँद—

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आँगन में
सहमा सा रख दिया गया ।

असाध्य वीणा



असाध्य वीणा

आ गये प्रियंवद ! केशकम्बली ! गुफा-मोह !
राजा ने आसन दिया । कहा :
“कृतकृत्य हुआ मैं तात ! पघारे आप ।
भरोसा है अब मुझ को
साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी !”

लघु संकेत समझ राजा का
गण दौड़े । लाये असाध्य वीणा,
साधक के आगे रख उस को, हट गये ।
सभा की उत्सुक आँखें
एक बार वीणा को लख, टिक गयीं
प्रियंवद के चेहरे पर ।

“यह वीणा उत्तराखण्ड के गिरि-प्रान्तर से
—घने वनों में जहाँ तपस्या करते हैं व्रतचारी—
बहुत समय पहले आयी थी ।
पूरा तो इतिहास न जान सके हम :
किन्तु सुना है
वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस
अति प्राचीन किरोट-तरु से इसे गड़ा था—
उस के कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने,
कन्धों पर बादल सोते थे,
उस की करि-शुण्डों सी डालें

भाँगन के पार द्वार

हिम-वर्षा से पूरे वन-भूयों का कर लेती थीं परित्राण,
कोटर में भालू बसते थे,
केहरि उस के बल्कल से बन्धे तुजलाने आते थे ।
और—मुना है—जड़ उस की जा पहुँची थी पाताल-लोक,
उस की गन्ध-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकि सोता था ।
उसी किरोटो-तरु से वज्रकीर्ति ने
सारा जीवन इसे गढ़ा :
हठ-साधना यही थी उस साधक की—
वीणा पूरी हुई, साय साधना, साय ही जीवन लीला ।”

राजा एके साँस लम्बी ले कर फिर बोले :
“मेरे हार गये सब जाने-भाने कलावन्त,
सब को विद्या हो गयी अकारथ, दर्प चूर,
कोई ज्ञानी गुणो आज तक इसे न साध सका ।
अब यह असाध्य वीणा ही ख्यात हो गयी ।
पर मेरा अब भी है विश्वास
कृच्छ्र-तप वज्रकीर्ति का व्यर्थ नहीं था ।
वीणा बोलेगी अवश्य, पर तभी ।
इसे जब सच्चा-स्वरसिद्ध गीद मे लेगा ।
तात ! प्रियंवद ! लो, यह सम्मुख रही तुम्हारे
वज्रकीर्ति की वीणा,
यह मैं, यह रानी, भरी सभा यह :
सब उदग्र, पर्युत्सुक,
जन-मात्र प्रतीक्षमाण !”

केशकम्बली गुफा-गेह ने खोला कम्बल ।
धरती पर चुप-चाप बिछाया ।
वीणा उस पर रख, पलक मूंद कर, प्राण खींच,
कर के प्रणाम,
अस्पर्श छुअन से छुए तार ।

धीरे बोला : "राजन् ! पर मैं तो
 कलावन्त हूँ नहीं, शिष्य, साधक हूँ—
 जीवन के अनकहे सत्य का साक्षी ।
 वच्यकीर्ति !
 प्राचीन किरीटी-तरु !
 अभिमन्त्रित वीणा !
 ध्यान-मात्र इन का तो गद्गद विह्वल कर देने वाला है ।"

चुप हो गया प्रियंवद ।
 सभा भी मौन हो रही ।

वाद्य उठा साधक ने गोद रख लिया ।
 धीरे-धीरे झुक उस पर, तारों पर मस्तक टेक दिया ।
 सभा चकित थी—अरे, प्रियंवद क्या सोता है ?
 केशकम्बली अथवा हो कर पराभूत
 झुक गया वाद्य पर ?
 वीणा सचमुच क्या है असाध्य ?

पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
 मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा —
 नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था ।
 सधन निविड में वह अपने को
 सोंप रहा था उसी किरीटी-तरु को ।
 कौन प्रियंवद है कि दम्भ कर
 इस अभिमन्त्रित कारुवाद्य के सम्मुख आवे ?
 कौन बजावे
 यह वीणा जो स्वयं एक जीवन भर की साधना रही ?
 भूल गया था केशकम्बली राज-सभा को :

कम्यल पर अभिमन्त्रित एक अकेलेपन में डूब गया था
 जिस में साक्षी के आगे था
 जीवित वही किरीटी-तरु
 जिस को जड़ वासुकि के फग पर थो आधारित,
 जिस के कन्धों पर बादल सोते थे
 और कान में जिस के हिमगिरि कहते थे अपने रहस्य ।
 सम्बोधित कर उस तरु को, करता था
 नीरव एकालाप प्रियंवद ।

“ओ विशाल तरु !

शत-सहस्र पल्लवन-पतझरों ने जिस का नित रूप सँवारा,
 कितनी बरसातों कितने खद्योतों ने आरती उतारी,
 दिन भीरे कर गये गुंजरित,
 रातों में झिल्ली ने
 अनथक मंगल-गान सुनाये,
 साँझ-सवेरे अनगिन
 अनचीन्हे खग-कुल की मोद-भरी क्रीडा-काकलि
 डाली-डाली को कँपा गयी—
 ओ दीर्घकाय !
 ओ पूरे शारखण्ड के अग्रज,
 तात, सखा, गुरु, आश्रय,
 त्राता महच्छाय,
 ओ व्याकुल मुखरित वन-ध्वनियों के
 वृन्दगान के मूर्त रूप,
 मे तुझे सुनूँ,
 देखूँ, ध्याऊँ
 अनिमेप, स्तब्ध, संयत, संयुत, निर्वाक् :
 कहां साहस पाऊँ
 छू सकूँ तुझे !
 तेरी काया को छेद, बाँध कर रची गयी वीणा को

किस स्पर्धा से
 हाथ करे आघात
 छीनने को तारों से
 एक चोट में वह संचित संगीत जिसे रचने में
 स्वयं न जाने कितनों के स्पन्दित प्राण रच गये !

"नहीं, नहीं ! वोणा यह मेरी गोद रखी है, रहे,
 किन्तु मैं ही तो
 तेरी गोदी बैठा मोद-भरा बालक हूँ,
 ओ तरु-तात ! संभाल मुझे,
 मेरी हर किलक
 पुलक में डूब जाय :
 मैं सुनूँ,
 गुनूँ,
 विस्मय से भर आँकूँ
 तेरे अनुभव का एक-एक अन्तःस्वर
 तेरे दोलन की लोरी पर झूमूँ मैं तन्मय—
 गा तू :
 तेरी लय पर मेरी साँसें
 भरें, पुरें, रीतें, विश्रान्ति पायें ।

"गा तू !
 यह वोणा रखी है : तेरा अंग—अपंग !
 किन्तु अंगी, तू अक्षत, आत्म-भरित,
 रस-विद्,
 तू गा :
 मेरे अंधियारे अन्तस् में आलोक जगा
 स्मृति का
 श्रुति का—

आंगन के पार द्वार

तू गा, तू गा, तू गा, तू गा !

“हाँ मुझे स्मरण है :

बदलो—कौध—पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पटपट ।

घनी रात में महुए का चुप-चाप टपकना ।

चौंके खग-शावक की चिहूँक ।

शिलाओं को दुलराते वन-झरने के

द्रुत लहरीले जल का कल-निदान ।

कुहरे में छन कर आती

पर्वती गाँव के उरसव-ढोलक की थाप ।

गड़रिये की अनमनी बांसुरी ।

कठफोड़े का ठेका । फुलसुँघनी की आतुर फुरकन :

ओस-बूँद की ढरकन—इतनी कोमल, तरल, कि झरते-झरते मानो

हरसिंगार का फूल घन गयी ।

भरे शरद के ताल, लहरियों की सरसर-ध्वनि ।

कूँजों का क्लंकार । काँद लम्बी टिट्टिभ की ।

पंख-युक्त सायक सी हंस-बलाका ।

चीड़-वनों में गन्ध-अन्ध उन्मद पतंग की जहाँ-तहाँ टकराहट

जल-प्रपात का प्लुत एकस्वर ।

झिल्लो-शादुर, कोकिल-चातक की झंकार पुकारों की यति में

संसृति की साँय-साँय ।

“हाँ, मुझे स्मरण है :

दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़

हाथियों का मानो चिंघाड़ रहा हो यूथ ।

घरघराहट चढती बहिया की ।

रेतीले कगार का गिरना छप्-छड़ाप ।

झंझा की फुफकार, तप्त,

पेड़ों का भररा कर टूट-टूट कर गिरना ।

ओले की करीं चपत ।

जमे पाले से तनी कटारी सी सूखी घासों की टूटन ।

ऐंठी मिट्टी का स्निग्ध घाम में धीरे-धीरे रिसना ।

हिम-नुपार के फाहे धरती के धावों को सहलाते चुप-चाप ।

घाटियों में भरती

गिरती चट्टानों की गूँज—

कांपती मन्द्र गूँज—अनुगूँज—सांस खोयी सी,

धीरे-धीरे नीरव ।

“मुझे स्मरण है

हरी तलहटी में, छोटे पेड़ों की ओट ताल पर

वैधे समय वन-पशुओं की नानाविध आतुर-तृप्त पुकारें :

गर्जन, घुर्घुर, चीख, भूँक, हुजका, चिचियाहट ।

कमल-कुमुद-पत्रों पर चोर-पैर द्रुत घावित

जल-पंछी की चाप ।

थाप दादुर की चकित छलांगों की ।

पन्थी के घोड़े की टाप अधीर ।

अचंचल धीर थाप भैंसों के भारी खुर की ।

“मुझे स्मरण है

उजक क्षितिज से

किरण भोर की पहली

जब तकती है ओस-बूँद को

उस क्षण को सहसा चौकी सी सिहरन ।

और दुपहरी में जब

घास-फूल अनदेखे खिल जाते हैं

मौमाखियाँ असंख्य झूमती करती हैं गुंजार—

उस लम्बे विलम्बे क्षण का तन्द्रालस ठहराव ।

और साँझ को

जब तारों की तरल कैंपकैंपो

भागन के पार द्वार

स्पर्शहीन क्षरती है—

मानो नभ में तरल नयन ठिठकी

निःसंख्य सबत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद—

उस सन्धि-निमिष की पुलकन लीयमान ।

“मुझे स्मरण है

और चित्र प्रत्येक

स्तब्ध, विजडित करता है मुझ को ।

सुनता हूँ मैं

पर हर स्वर-कम्पन लेता है मुझ को मुझ से सोख—

वायु सा नाद-भरा मैं उड़ जाता हूँ ।”

मुझे स्मरण है—

पर मुझ को मैं भूल गया हूँ :

सुनता हूँ मैं—

पर मैं मुझ से परे, शब्द में लीयमान ।

“मैं नहीं, नहीं ! मैं कहीं नहीं !

ओ रे तरु ! ओ वन !

ओ स्वर-सँभार !

नाद-मय संसृति !

ओ रस-प्लावन !

मुझे क्षमा कर—भूल अकिंचनता को मेरी—

मुझे ओट दे—ढँक ले—छा ले—

ओ शरण्य !

मेरे गूँगेपन को तेरे सोये स्वर-सागर का ज्वार डुबा ले !

आ, मुझे भुला,

तू उतर वीन के तारों में

अपने से गा

अपने को गा—

अपने खग-कुल को मुखरित कर

अपनी छाया में पले मृगों की चौंकड़ियों को ताल बांध,
अपने छायातप, वृष्टि-पवन, पल्लव-कुसुमन की लय पर
अपने जीवन-संचय को कर छन्दयुक्त,
अपनी प्रज्ञा को वाणी दे !

तू गा, तू गा—

तू सन्निधि पा—तू खो

तू आ—तू हो—तू गा । तू गा !”

राजा जागे ।

समाधिस्थ संगीतकार का हाथ उठा था—

कांपी थीं उँगलियाँ ।

अलस अँगड़ाई ले कर मानो जाग उठी थी वीणा :

किलक उठे थे स्वर-शिशु ।

नीरव पद रखता जालिक मायावी

सधे करों से धीरे धीरे धीरे

डाल रहा था जाल हेम-तारों का ।

सहसा वीणा झनझना उठी—

संगीतकार की आँखों में ठण्डी पिघली ज्वाला सी झलक गयी—

रोमांच एक बिजली सा सब के तन में दौड़ गया ।

अवतरित हुआ संगीत

स्वयम्भू

जिस में सोता है अखण्ड

ब्रह्मा का मौन

अशेष प्रभामय ।

डूब गये सब एक साथ ।

सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे ।

राजा ने अलग सुना :

आँगन के पार द्वार

"जय देवो यशःकाय
 वरमाल लिये
 गाती थी मंगल-गीत,
 दुन्दुभी दूर कही वजती थी,
 राज-मुकुट सहसा हलका हो आया था, मानो हो फूल सिरिस का
 ईर्ष्या, महदाकांक्षा, द्वेष, चाटुता
 सभी पुराने लुगड़े से झर गये, निखर आया था जीवन-कांचन
 धर्म-भाव से जिसे निछावर वह कर देगा ।

रानी ने अलग सुना :
 छँटती बदली में एक कौध कह गयी—
 तुम्हारे ये मणि-भाणिक, कण्ठहार, पट-वस्त्र,
 मेखला-किंकिणि—
 सब अन्धकार के कण हैं ये ! आलोक एक है
 प्यार अनन्य ! उसी को
 विद्युल्लता घेरती रहती है रस-भार मेघ को,
 थिरक उसी को छाती पर उस में छिप कर सो जाती है
 आश्वस्त, सहज विश्वास-भरी ।
 रानी
 उस एक प्यार को साधेगी ।

सब ने भी अलग-अलग संगीत सुना ।
 इस को
 वह कृपा-वाक्य था प्रभुओं का—
 उस को
 आतंक-मुक्ति का आश्वासन :
 इस को
 वह भरी तिजोरी में सोने की खनक—
 उसे

बटुली में बहुत दिनों के बाद अन्न को सोंधी खुशबू ।
 किसी एक को नयी वधू की सहमी सी पायल-ध्वनि ।
 किसी दूसरे को शिशु की किलकारो ।
 एक किसी को जाल-फँसी मछली की तड़पन—
 एक अपर को चहक भुक्त नम में उड़ती चिड़िया की ।
 एक तीसरे को मण्डो की ठेलमठेल, गाहकों की आस्पर्धा भरी
 बोलियाँ,
 चौथे को मन्दिर की ताल-युक्त घण्टा-ध्वनि ।
 और पाँचवें को लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटें
 और छठे को लंगर पर कसमसा रही नौका पर लहरों की
 अविराम थपक ।

बटिया पर चमरोधे की सँधी चाप सातवें के लिए—
 और आठवें को कुलिया की कटो मेंढ से बहते जल की छुल-छुल ।
 इसे गमक नट्टिन की एड़ी के घुँघरू की—
 उसे युद्ध का ढोल :
 इसे संज्ञा-गोधूली की लघु टुन-टुन—
 उसे प्रलय का डमरू-नाद ।
 इस को जीवन की पहली अँगड़ाई
 पर उस को महाजृम्भ विकराल काल !
 सब डूबे, तिरे, क्षिपे, जागे—
 हो रहे वर्षावद, स्तब्ध :
 इयत्ता सब की अलग-अलग जागी,
 संघीत हुई,
 पा गयी विलय ।

बीणा फिर मूक हो गयी ।

साधु ! साधु !!”

राजा सिंहासन से उतरे—

“रानी ने अर्पित की सतलड़ी माल,

हे स्वरजित् ! धन्य ! धन्य !”

संगीतकार

वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक—मानो
गोदी में सोये शिशु को पालने ढाल कर मुग्धा मां
हट जाय, दीठ से दुलराती—
उठ खड़ा हुआ ।

बढ़ते राजा का हाथ उठा करता आवर्जन,
बोला :

“श्रेय नहीं कुछ मेरा :

मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—

वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने

सब कुछ को सीप दिया था—

सुना आप ने जो वह मेरा नहीं,

न वीणा का था :

वह तो सब कुछ की तथता थी

महाशून्य

वह महामौन

अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय

जो शब्दहीन

सब में गाता है ।”

नमस्कार कर मुड़ा प्रियंवद केशकम्बली । ले कर कम्बल

गेह-गुफा को चला गया ।

उठ गयी सभा । सब अपने-अपने काम लगे ।

युग पलट गया ।

प्रिय पाठक ! यों मेरी वाणी भी .

मौन हुई ।

प्रथम पंक्तियों की सूची

१. मन्दिर के भीतर वे सब धुले-पुँछे, उधड़े-भवलिप्त	७
२. बना दे, चितेरे	८
३. मतियाया	१०
४. अन्धकार था	१२
५. जो पास रहे	१३
६. तुम	१४
७. शील का निर्जन किनारा	१५
८. अरे ये उपस्थित	१६
९. दूर सागर पार	१७
१०. तुम्हारी पलकों का कँपना	१८
११. सूने गलियारों की उदासी	१९
१२. माँ हम नहीं मानते	२०
१३. सूनी सी साँझ एक	२१
१४. जिन आँखों की तुम ने गहरा बतलाया था	२२
१५. अँधेरे अकेले घर में	२३
१६. मैं ने कहा	२४
१७. रेत का विस्तार	२५
१८. वासना को बाँधने को	२६
१९. यह महाशून्य का शिविर	२७
२०. वन में एक शरना बहता है	२८
२१. सुनता हूँ गान के स्वर	२९
२२. किरण जब मुझ पर क्षरो	३०
२३. एक चिकना मौन	३१
२४. रात में जागा	३२
वागिन के पार द्वार	३३

२५. हवा कहीं से ठठी, यही	३९
२६. ऊपर ही ऊपर	३९
२७. जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकाती है	४१
२८. जो बहुत तरसा-तरसा कर	४२
२९. धुन्ध से ढँकी हुई	४३
३०. तू नहीं कहेगा ?	४५
३१. अरी ओ आत्मा री	४६
३२. अकेली और अकेली	४८
३३. यह धीरे-धीरे भाया	४९
३४. जो कुछ सुन्दर था, प्रेय, काम्य	५०
३५. मैं कवि हूँ	५१
३६. न कुछ मैं से वृत्त यह निकला कि जो फिर	५२
३७. अन्धकार में चली गयी है	५३
३८. उस बीहड़ काली एक शिला पर बैठा दत्त-चित्त	५४
३९. ढूँह की ओट बैठे	५५
४०. यही, हाँ, यही	५७
४१. ओ मूर्ति !	५९
४२. व्यथा सब की	६०
४३. उसी एकान्त में घर दो	६१
४४. सागर और धरा मिलते थे जहाँ	६२
४५. आँगन के पार	६४
४६. दूँज का चाँद	६४
४७. आ गये प्रियंवद ! केशकम्बली ! गुफा-गोह	६७

अज्ञेय का
आई के ऐसे
में भारतीय
से संयोजन
ो है। इस
ो-काव्य की
इस ने यह
अज्ञेय प्रश्न
ाने में भी
के ये उत्तर
से पाये है।
द्वार' नयी
,निक हिन्दी
और प्रौढ़